विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
कलाओं में प्रतीक विधान
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 3-4
मुद्रालेख का प्राचीन प्रचलन
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 5-6
वराहमिहिर का वांग्मयीन अवदान
डॉ. मुकेश कुमार शाह

पृष्ठ क्र. 7
मालवा का तापस पुरूष - राजयोगी भरथरी
डॉ. पूरन सहगल

पृष्ठ क्र. 8
भर्तृहरि की लोक स्वीकृति
मिथिलेश यादव

कलाओं में प्रतीक विधान

ईशान अवस्थी

प्रतीक कला की एक लिपि–भाषा है जिसके माध्यम से अमूर्त भाव मूर्त रूप में अभिव्यक्ति पाता है। अमूर्त से मूर्त चिंतन की इस सांकेतिक भाषा–प्रतीक का सृजन धर्म और दर्शन के चिंतन ने किया। कला ने उसे रूपाकारों में प्रयुक्त करके उसके स्वरूप का सृजन किया है। धर्म और दर्शन का चिंतन प्रतीक की आत्मा है और कला द्वारा निर्मित रूप उसका शरीर। अतः वैदिक कला के ये प्रतीक उसी भाषा को उच्चारित करते हैं जिसका सृजन वैदिक ऋषियों ने किया है। इसीलिए हेनरिक जिमर का मानना है कि भारतीय प्रतीक उस पथ पर पथ–प्रदर्शक चिह्न हैं जिस पथ से दर्शन आगे बढ़ा है और कलाएँ भी इसी पथ से आगे बढ़ी हैं। प्रतीकों का वैदिक साहित्य और कलाओं में अपरिमित कोश है। वैसे तो इस सृष्टि में जो कुछ भी देखते हैं या अनुभव करते हैं, वह सब इस सृष्टि के रचयिता परमदेव के प्रतीक रूप हैं। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, बिंदु, वृत्त, रेखा, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि सभी कुछ उसी परमदेव के रचे शिल्प हैं और ये सब उसी के रूप और सत्ता की प्रतीति कराते हैं। ये सभी श्री, स्वस्ति, ओइम, चक्र, अग्नि, सोम, सूर्य, चंद्र, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि अन्य ज्यामितीय रचनाएं, अश्वत्थ (वृक्ष), बेल, स्येन (पक्षी), अश्व (पशु) आदि के प्रतीक रूप वैदिक साहित्य और कला में अपना स्थान ग्रहण किये हुए हैं। कलाओं में प्रतीकों का स्थान महत्वपूर्ण इसलिए है कि उनमें व्यक्तिगत मूर्त भाव का अभाव होता है, यदि मूर्त भाव होता भी है तो वह कम से कम होता है, इसीलिए वह अमूर्त भाव की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति कर पाता है जबकि एक मूर्ति या चित्र अपनी सीमाओं के कारण केवल एक ही रूप की प्रस्तुति कर पाता है। एक ही मूर्त रूप में अनेक रूपों, भावों और अर्थों को उजागर करने वाले सर्वरूपमय प्रतिरूप का प्रस्तुतीकरण उसके लिए संभव नहीं होता। वह मात्र प्रतीक के माध्यम से ही संभव है। डॉ. राधाकमल मुखर्जी के अनुसार प्रतीक, प्रतिमा और रूप सभ्यता और समाज की आत्मा को उद्घाटित करने का कार्य इतने अच्छे प्रकार से करते है जितना धर्म, दर्शन और विज्ञान नहीं कर पाते। वैसे, धर्म, दर्शन और विज्ञान भी यही कार्य करते हैं लेकिन कला यह कार्य जिस कुशलता से करती है उस कुशलता से कोई और नहीं कर पाता। यही कारण है कि मानव की कलात्मक भाषा ने शिल्प में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए विविध प्रतीकों को कल्पित किया है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतीक कला की भाषा की वर्णमातृका के समान है जो अर्थ की प्रतीति के लिए परमआवश्यक है।

कला में प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष भाव, संकेत या प्रतीक अधिक गंभीर अर्थों की अभिव्यक्ति में समर्थ होते है इसीलिए कहा गया है, परीक्षा प्रिय वे देवा प्रत्यक्षद्वय और यही वैदिक कला का नियामक सूत्र है। सूर्य, चंद्र, पृथ्वी आदि जितने भी तत्व, पदार्थ या रूप हैं, वे सब संकेत या प्रतीक है। ये सृष्टि के रहस्य को प्रत्यक्ष रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर अर्थों के परीक्षा संकेत प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, विश्व को जब वृक्ष या अश्वत्थ कहा जाता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि अश्वत्य के जन्म की कथा से विश्व के जन्म और विकास की व्याख्या समझी जा सके तथा यह प्रतीति की जा सके कि शक्ति का कोई महान् स्तम्भ पृथ्वी से द्यौलोक तक वृक्ष या स्तम्भ की भाँति ऊर्ध्व और स्तब्ध खड़ा है। प्रतीकों की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्य में मूर्धन्य स्थान रखता है। महर्षि अरविंद घोष के अनुसार वेद की समस्त भाषा प्रतीकमयी है, उसका दर्शन प्रतीक की भाषा में बात करता है। वैदिक साहित्य में प्रतीक का अर्थवाची पद 'केतु' है। 'देवं वहन्ति केतवः' अर्थात्, प्रतीक उस महान् देव का केतु है जिसने समग्र सृष्टि का सृजन किया है। प्रतीक ही उस महान् देव की प्रतीति कराता है। प्रतीकों का

विकास यज्ञों से हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि आर्य धर्म का सर्वप्रमुख प्रतीक है, जिसकी अनेक प्रतीक रूपों में कल्पना की गयी है। यज्ञ स्वयं प्रजापति का प्रतीक है। यज्ञ वेदि पर रखी स्वर्ण–पत्र पर उत्कीर्ण पुरुषाकृति प्रजापति की प्रतीक है। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला स्वर्ण–पत्र पर उत्कीर्ण चक्र सूर्य का प्रतीक है जो उसके आकार और उसकी गति का बोधक है। स्वास्तिक का प्रतीक सृष्टि की परिभ्रमण प्रक्रिया व गतिशीलता का सूचक बनकर उभरा है जिसका विकास स्वास्ति के भाव–चिंतन से हुआ है। इसके पीछे जीवन को समग्र उपलब्धियों का भावार्थ छिपा हुआ है। सम्वत्सर को अश्व रूप में वर्ष का प्रतीक माना गया है, सूर्य को उसके नेत्र, वायु को श्वास और उषा को उसका सिर बताया गया है। अनेक भौतिक पदार्थों जैसे– यूप, आयुष व मुटुभि आदि को भी देवताओं के प्रतीक रूप में वर्णित किया गया है। ऋग्वेद में इंद्र की प्रतिमा के उल्लेख को मैक्डॉनल इंद्र का प्रतीक रूप मानते ही हैं। खिल्ल सूक्तों में देवी श्री का प्रतीक स्वर्णिम हिरण बताया गया है जिसमें जीवन के श्रेयवंत होने के भाव को अभिव्यंजना की गयी है। ऋग्वेद में अग्नि को पद्म का प्रतीक माना गया है। उसका जन्म पद्म से बताया गया है और इसी पद्म से आगे चलकर पद्मा देवी का विकास हुआ है। 'अ–उ–म' मात्राओं के त्रिगुणात्मक जगत् से अक्षरात्मक प्रतीक ऊ ने विकास पाया। उपनिषदों में शरीर के पंच कोशों को पक्षी और प्रणव (ऊ) को वृषभ, इंद्रियों को अश्व, मन को रथ का प्रतीक बताया गया है। ऋग्वेद के विश्वकर्मा प्रजापति का वह रूप जिसमें उन्हें चारों ओर चक्षु, मुख और पैर वाला बतलाया गया है, उनकी समग्र सृष्टिगत व्याप्ति का प्रतीक रूप है। इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का सहस्र–शीर्षा, चक्षु और पद वाला परमपुरुष सृष्टि और समाज का प्रतीक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का जो सहस्राक्ष और सहस्र पाद वाला परमपुरुष हमारी अंतरात्मा हो कर हमारे शरीर में बैठा है तथा समस्त सृष्टि में व्याप्त है, सृष्टि के समग्र रूप की प्रतीकात्मक कल्पना है। इन्हीं प्रतीकपरक कल्पनाओं ने वेदोत्तर समाज में विराट–पुरुष और विष्णु की प्रतिमाओं का निर्माण किया है। पशु और पक्षियों की भी अनेक प्रतीक रूपों में कल्पना की गयी है। सम्वत्सर की अश्व के प्रतीक रूप में कल्पना की भाति अग्नि की वृषभ रूप में कल्पना की गयी है जो आगे चलकर अग्नि की प्रतिमा के निर्माण की प्रेरणा बनी। प्रतीकों में युग्मों की कल्पना भी की गयी है जिसमें धरती–आकाश (द्यावा–पृथ्वी या द्यौ–अंतरिक्ष), रात्रि दिवस, गौ–वृष आदि प्रमुख हैं। इन युग्मों में पारस्परिक सम्मिलन दर्शाया गया है और इनके मिथुन रूप प्रजनन के प्रतीक माने गये है। वृष शक्ति और संतति का प्रतीक है। इसलिए द्यौ को पशु–रूपीकरण कर वृष या लोहित वर्ण का वृष बताया गया है जो नीचे की ओर मुंह करके रभाता है, क्योंकि इसकी मादा गाय रूपी पृथ्वी नीचे है। सूर्य को चितकबरे रंग का वृष (गौ पृश्न) बताया गया है। इसी प्रकार क्रुद्ध स्वभाव वाले मरुत देव को दौड़ते हुए वृषभ की तरह क्रोधी और हिंसक बताया गया है। उषा के मानवीकरण प्रतीक की भाँति राका, कुहू, सिनीवाली का प्रतीकीकरण हुआ है। वैदिक धर्म और दर्शन द्वारा दिये गये इन अनेक प्रतीकों का उपयोग कला ने अलंकरण के लिए किया और ये प्रतीक ही कला के अलंकार बने, जिनके उपयोग से अनेकानेक अभिप्रायों (मोटिफ), तंत्र (ज्यामितीय आलेखन), डायग्राम आदि डिजाइनों की रचना हुई। इन्हीं रचनाओं का उपयोग कर उपकरणों को सजाया गया, जिससे उनमें सौदर्य की सृष्टि हुई और यही अलंकरण कला के महत्वपूर्ण उपादान बने। यही उपादान, आर्यों के अलंकारिक अभिप्राय (मोटिफ) डॉ. आनंद कुमारस्वामी के अनुसार, लोककला के रूप में आज तक सुरक्षित है। उनका मानना है कि आर्य की प्रारंभिक कला अलंकारिक थी, जिसे अमूर्त और प्रतीकात्मक कहा जाना अधिक उपयुक्त होगा। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का भी यही मत है कि आर्यों ने जिन प्रतीकों का विकास किया, वह लोककला के रूप में आज भी अक्षुण्य है। अलंकारिक, अमूर्त और प्रतीकात्मक कला के संदर्भ में डॉ. मुल्कराज आनंद का मत है कि आर्यों की जो सौंदर्य अवधारणा थी, उसमें ऐसी ही कला उपयुक्त ठहरती है, जो अलंकारिक, अमूर्त और प्रतीकात्मक हो। इस प्रकार ये विद्वान वैदिक कला को अलंकारिक व प्रतीकात्मक मानते हुए प्रतीक के उपयोग की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। देवों के पशु–रूपीकरण के प्रतीकात्मक वर्णन भी मूर्तिपरक हैं। मरुत या रुद्र देव की जिस वृषभ रूप में कल्पना की गयी है वही आगे चलकर शिव के रूप में विकसित हुई। वृषभ की कल्पना शिव की कल्पना में उनके वाहन नंदी के रूप में उनके साथ संलग्न रही। रुद्र या शिव का वृषभ के साथ संबंध का प्रमाण पुरातात्विक खोजों में प्राप्त होता है, जिसमें शिव को वृषभ मूर्ति पशुपति रूप में दर्शाया गया है। शिव रुद्र की भांति जटाधारी, कपर्दिन, त्र्यम्बक, कृत्तिवासस और पिनाकिन है। रुद्र से जिस प्रकार शिव का विकास हुआ है इसी प्रकार सहस्रशीर्षा पुरुष से विष्णु का। यज्ञपरक चक्र जो सूर्य का प्रतीक था वह विष्णु का आयुध–सुदर्शन चक्र बना। इंद्र के त्रिविक्रम रूप की जो कल्पना थी वह भी विष्णु के साथ जुड़ गयी। विष्णु इंद्र की भाँति सुंदर, आकर्षक वस्त्र वाले तथा स्वर्ण आयुध धारण करने वाले बने।

मुद्रालेख का प्राचीन प्रचलन

विजय परिहार

पुरातत्व–विषयक अभिलेखों में मुद्रालेखों का अपना विशेष स्थान है। मुद्राएँ भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्वपूर्ण धरोहर हैं। ये मुद्राएँ लौह, रजत, ताम्र, स्वर्ण और मृत्तिका आदि पर निर्मित विभिन्न रूपों में उपलब्ध हुई हैं। समय–समय पर विभिन्न स्थानों से प्राप्त और भारत के अनेकानेक संग्रहालयों में सुरक्षित इन मुद्राओं पर खुदे हुए लेखों के अध्ययन से इतिहासकारों ने प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति और सामाजिक जीवन के सर्वथा अज्ञात एवं विलुप्त तथ्यों का पता लगाया है। 300 ई. से पहले के लगभग पाँच सौ वर्षों के भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त कराने में मुद्राएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। मुद्रालेखों का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि साहित्यिक ग्रन्थों के अन्तर्वाह्य साक्ष्यों के आधार पर इतिहास की जो मान्यताएँ स्थापित हुई हैं उनकी सम्पुष्टि के लिए मुद्रालेख महत्वपूर्ण प्रमाण सामग्री सिद्ध हुई हैं।

इन मुद्राओं पर सम–सामयिक शासक का नाम, शासनकाल, उसकी उपाधि, विजय, धार्मिक मान्यताएँ और नीतियों का उल्लेख हुआ मिलता है। कुछ मुद्राओं में अंकित प्रतीकात्मक चिह्नों द्वारा सम्बद्ध शासक की अभिरुचियों का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए सम्राट् समुद्रगुप्त की मुद्राओं में अंकित वीणा से उसकी संगीतप्रियता की जानकारी प्राप्त होती है। कुछ मुद्राओं पर विजेता और विजित, दोनों पक्षों का उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए जोगलथम्बी भाण्ड से प्राप्त मुद्राओं में विजेता गौमतीपुत्र सातकर्णि और विजित राजा नहपान दोनों का उल्लेख हुआ है। भारतीय संस्कृति के आदान–प्रदान में यूनानी शासकों का जो योगदान रहा है, उसके प्रामाणिक इतिहास की जानकारी के लिए मुद्रालेखों का बड़ा महत्व सिद्ध हुआ है। भारत में मुद्रालेखों की उपलब्धि का इतिहास दियोदोतस, यूथिडिमस, दिमित और अपलदत्तस (मिलिन्द) आदि प्राचीन शासकों के समय से आरम्भ होता है। उन्हीं के अनुकरण पर कुषाण राजाओं ने अपनी मुद्राओं पर लेख उत्कीर्णित कराये। उन्होंने चाँदी की जगह सोने के सिक्कों का प्रचलन किया। कनिष्क के मुद्रालेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपनी मुद्राओं पर शिव, अरदोक्षा, सूर्य और बुद्ध की आकृतियों को अंकित कर हिन्दू, यूनानी, ईरानी और बौद्ध धर्मों के प्रति अपनी समान निष्ठा का परिचय दिया। क्षत्रपों, सातवाहनों और गुप्तों की उपलब्ध कुछ मुद्राओं में युगल नामों का उल्लेख हुआ है। शासक राजा के साथ उसकी महारानी या उत्तराधिकारी युवराज का नाम भी उल्लिखित है। उनके द्वारा तत्कालीन राज्य की सीमाओं, सुदूर द्वीपान्तरों में राजनीतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। कुषाणों के बाद गुप्तों ने भी अपने स्वर्ण–निर्मित सिक्कों पर संस्कृत में छन्दोबद्ध लेख उत्कीर्ण कराये। उनके सिक्कों पर अंकित परम भागवत उपाधि से ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। धार्मिकता के अतिरिक्त उनकी उपाधियों और विजयों का भी उल्लेख हुआ है। मुद्राएँ अपने युग की सम्पन्नता और असम्पन्नता की द्योतक भी सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए आरम्भिक गुप्त राजाओं की स्वर्णमुद्रा उस युग की समृद्धि का परिचय देती हैं, किन्तु स्कन्दगुप्त की धातु–मुद्राएँ देश की विपन्नता तथा अवनति की सूचना देती हैं।

गुप्तों के बाद मध्ययुगीन हूणों के मुद्रालेखों से उनकी भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध अभिरुचि का पता चलता है। हूण राजा मिहिर के मुद्रालेखों से ज्ञात होता है कि वह शैव मतावलम्बी था। इस प्रकार गोविन्दचन्ददेव, गंगदेव, परिमर्दिदेव और पृथ्वीराजदेव की मुद्राओं के लेख मध्ययुगीन इतिहास की मूल्यवान सामग्री सिद्ध हुई हैं। उपलब्ध मुद्राओं से तत्कालीन भाषा, साहित्य और कला पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उनसे विभिन्न युगों में प्रचलित प्राकृत तथा संस्कृत भाषा की विभिन्न रूपों का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मौर्यों, सातवाहनों और कुषाणों के मुद्रालेखों से जिस प्रकार जन–भाषा प्राकृत की लोकप्रियता विदित होती है, ठीक उसी प्रकार गुप्तों के मुद्रालेखों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा तत्कालीन समाज की संस्कृतप्रियता का द्योतन करती है। गुप्तों की चित्रयुक्त मुद्राओं से उनकी कलाप्रियता का भी परिचय प्राप्त होता है। लिपि–विकास की दृष्टि से मुद्राओं का विशेष महत्व सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिए उत्तर–पश्चिम भारत के यूथिडिमस, दिमित तथा मिलिन्द आदि यूनानी शासकों के मुद्रालेखों में जहाँ

खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है, वहाँ पश्चिम भारत से प्राप्त क्षत्रप, शक शासकों तथा संघ–शासकों के मुद्रालेखों में ब्राह्मी लिपि का उपयोग हुआ है और गुप्त शासकों की मुद्राओं में गुप्त लिपि तथा मध्ययुगीन शासकों की मुद्राओं में नागरी लिपि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार प्राचीन भारत के गणतंत्रों की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अध्ययन में उनका बड़ा महत्व है। किन्तु मुद्रालेखों के अध्ययन तथा आधार पर सही ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। उदाहरण के लिए रोमक इतिहासकार प्लिनी की भारत संबंधी भ्रामक स्थापनाएँ मुद्रालेखों के मनगढ़न्त अध्ययन पर ही आधारित थीं। कालांतर में मुद्राशास्त्र पर लेखन का सर्व प्रथम प्रयास कॅर्नल टॉड ने सन् 1824 में ट्रांजेक्शन ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी में मथुरा एवं भारत के अन्यतम स्थलों से संग्रहीत मुद्राओं का प्रकाशन किया। कनिंघम ने सर्वेक्षण (सन् 1874–76) मध्य मालवा के क्वचित् कुछ स्थलों उज्जैन, बेसनगर एवं सारंगपुर की मुद्राओं का प्रकाशन आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट्स व क्वायन्स आफ एन्शिएट इंडिया नामक ग्रन्थ में (सन् 1891) किया है। थियोबॉल्ड ने उज्जैन–एरण मुद्राओं पर अंकित चिह्नों का विवरण जॅर्नल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल में सन् 1890 में दिया। ई.जे. रेप्सन ने 1897 ई. में इंडियन क्वायन्स नामक ग्रन्थ में एरण मुद्राओं पर प्रकाश डाला है। जेम्स प्रिंसेप ने उज्जयिनी से प्राप्त उज्जयिनी चिह्नांकित तीस मुद्रा–मुद्राओं, जिनमें दो उजयिन नामक मुद्राएँ हैं, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल नामक जर्नल में प्रकाशित किया। व्हाइट किंग ने (सन् 1903–1904 ई.) मालवा की मुद्राओं व इतिहास पर प्रकाश डाला है। विन्सेन्ट स्मिथ के ग्रन्थ (सन् 1906) दि कॉटलाग आफ एन्शिएट इंडियन क्वायन्स इन दि इंडियन म्यूजियम में उज्जयिनी की ढली अथवा ठप्पांकित मुद्राएँ वर्णित हैं। देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने बेसनगर उत्खनन सन् 1913–14 व 1914–15 के मध्य उपलब्ध मुद्राओं का विवरण आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, एन्यूअल रिपोर्ट में प्रकाशित किया। सन् 1921 में कार्माइकेल लेक्चर्स आन न्यूमिस्मेटिक नामक ग्रन्थ (1921 ई.) मे भी बेसनगर की मुद्राओं पर प्रकाश डाला है।

मुद्रा शास्त्रियों द्वारा सौ वर्षों के मध्य मालवा की मुद्राओं पर यह लेखन का प्रयास किया गया। जॉन मार्शल द्वारा किये गये दो उत्खननों– सर्व प्रथम मीरभाण्ड टीले का उत्खनन सन् 1912 में किया गया जिसमें 167 रजत–आहत मुद्राएँ तथा एक मुद्रा डायोडोटस द्वितीय की भी प्राप्त हुई हैं। द्वितीय स्थल तक्षशिला के अन्तर्गत सिरकप उत्खनन सन् 1924 में 1171 रजत आहत मुद्राएँ एवं दो स्वर्ण मुद्राएँ, एक सिकन्दर की मुद्रा तथा द्वितीय फिलिप एरिडियस की प्राप्त हुई। इन मुद्राओं की प्राप्ति से जॉन मार्शल ने इन आहत–मुद्राओं का काल उरी शती ईसा पूर्व का अंतिम काल निर्धारित किया है। वाल्श एवं परमेश्वरीलाल गुप्त ने प्रथम निधि का समय प्रान मौर्यकाल तथा द्वितीय निधि का समय मौर्य काल माना है। पुरातात्विक साधन स्रोतों से यह प्रतीत होता है कि अचित्रित ढली मुद्राएँ लेख युक्त मुद्राओं से पूर्व प्रचलित थीं। उत्खनन के स्तरीकरण के प्रमाणानुसार प्राचीन भारत के विभिन्न स्थलों जैसे हस्तिनापुर, कौशाम्बी, राजघाट, श्रावस्ती, सहगोरा आदि से यह प्रामाणित होता है कि अचित्रित (लेख रहित) ताम्र मुद्राएँ चौथी या तीसरी शती ईसा पूर्व में प्रचलित थीं। ये मुद्राएँ आहत–मुद्राओं तथा उत्तरीय कृष्ण राजित मृण्मय पात्रों के साथ में प्राप्त हुई है। पूर्वी भारत के उत्खनित विभिन्न स्थलों जैसे वैशाली, चिरौद, सोनपुर, कुम्हरार तथा पश्चिमी बंगाल के स्थानों से ज्ञात मुद्राओं से यह प्रकट है कि ये मुद्राएँ द्वितीय शती ईसा पूर्व के मध्य प्रचलित हुईं। मालवा के उत्खनित विभिन्न स्थलों जैसे आवरा, उज्जयिनी, एरण कसरावद, दंगवाड़ा, भीम बैठका, महेश्वर–नावडातोली, रुनिजा तथा विदिशा के स्तरीकरण के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि ताम्र–आहत मुद्राएँ ताम्राश्मयुगीन स्तर से प्राप्त नहीं हुई हैं, अतएव इनके प्राप्ति स्तर से भी इनका कालमान ज्ञात होता है। उत्तरीय कृष्ण–राजित मृण्मय पात्र के साथ मिलने के कारण इनकी तिथि वैज्ञानिक रीति से ईसा पूर्व 6वीं शती निर्धारित की जा सकती है। उज्जयिनी, एरण, नावडातोली तथा विदिशा उत्खनन के स्तरों से प्राप्त मुद्राओं से होती है। उज्जयिनी उत्खनन से उज्जयिनि नगर नामांकित तीन मुद्राएँ द्वितीय काल के मध्य स्तर से (500 ई.पू. से 200 ई.पू. तक) प्राप्त हुई है। ये मुद्राएँ उत्तरीय कृष्ण–राजित मृण्मय पात्र के साथ मिली है। एरण उत्खनन में मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में राजा इन्द्रगुप्त नामांकित सीसे का एक अर्द्ध वृत्ताकार टुकड़ा, पकी मिट्टी की एक लेख युक्त मुहर, जिस पर एरण नगर का पुराना नाम 'एरिकिण' लिखा है, द्वितीय काल के स्तर (द्वितीय शती ईसा पूर्व) से ज्ञात है। नावदाताली उत्खनन में (400 ईसा पूर्व से 100 ईसा पूर्व) एक मुद्रा प्राप्त हुई है। विदिशा (बेसनगर) उत्खनन में वैदिरा नगर नामांकित मुद्राएँ द्वितीयकाल (तीसरी शती ईसा पूर्व से दूसरी शती ईसा पूर्व) से प्राप्त हुई हैं। अतएव प्राचीन भारतीय साहित्यिक साक्ष्य, जिनमें वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, कात्यायन श्रौतसूत्र, महाभारत, बौद्ध साहित्य (विभिन्न जातक, विनय पिटक, मज्झिम व अंगुत्तर निकाय), कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति तथा पुरातात्विक भारत के विभिन्न उत्खनित स्थलों के स्तरों से प्राप्त मुद्राओं के प्रमाणों के आधार पर प्राचीन भारतीय मुद्राओं का आविर्भाव काल 800 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व के मध्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जा सकता है। ये मुद्राएँ गुप्तकाल से पूर्व तक दूसरी, तीसरी शती ईसवी तक भारत में प्रचलित रहीं। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक 800 ईसा पूर्व से लेकर तीसरी शती ईसवी तक लगभग ग्यारह सौ वर्षों तक इन मुद्राओं का भारत में प्रचलन रहा। विदेशी तथा भारतीय मुद्रा शास्त्रज्ञों ने समय–समय पर प्राचीन भारतीय मुद्राओं के प्राप्ति– स्थल, स्थानीयता, आकार–प्रकार, तौल तथा मुद्राओं पर अंकित चिन्हांकनों को दृष्टिगत रखते हुए उनका वर्गीकरण किया है।

वराहमिहिर का वांग्मयीन अवदान

डॉ. मुकेश कुमार शाह

आचार्य वराहमिहिर भारतीय ज्योतिष शास्त्र के मार्तण्ड कहे जाते हैं। वराहमिहिर ने पूर्वकालिक ज्योतिष आचार्यों के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके उन्हें सुचारू रूप से क्रमबद्ध किया। वराहमिहिर ने सिद्धांत ज्योतिष के अपेक्षा जातक (फलित) ज्योतिष पर अधिक कार्य किया। इसीलिए इनके जातक ग्रन्थ भारतीय फलित ज्योतिष के मेरुदण्ड माने जाते हैं। आज भारतीय ज्योतिष का जो विशाल वृक्ष हमें दृष्टिगोचर होता है उसका मूल आचार्य के श्रम से संचित है। ज्योतिष के महत्व को प्रतिपादित करते हुए आचार्य अपनी गर्वोक्ति रखते हुए कहते हैं कि तैरता हुआ मनुष्य हवा के वेग से समुद्र को पार कर सकता है किन्तु कालपुरुष संज्ञक ज्योतिषशास्त्र स्वरूप महासमुद्र को ऋषियों के अतिरिक्त मनुष्य मन से भी प्राप्त नहीं कर सकता है। वस्तुतः वराहमिहिर ही एक ऐसे ज्योतिषी हुए हैं जिन्होंने ज्योतिषशास्त्र के प्रायः सभी अंगों पर विचार किया है। यद्यपि आचार्य समय तक भारतीय ज्योतिष शास्त्र तीन भागों में एकत्र हो चुका था, किन्तु आचार्य से पूर्व प्रचलित ज्योतिष शास्त्र के अनेक भेदों में, जैसे– यात्रा मुहूर्त प्रश्न, शकुन आदि विषयों पर भी आचार्य ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों में प्रथम स्कन्ध सिद्धान्त (तंत्र) का है। इस स्कन्ध में सौर, सावन, नक्षत्र, चान्द्र इन चारों मानों का वर्णन, अधिक मास, क्षय मास की उत्पत्ति प्रभावादि साठ सम्वत्सर युग, वर्ष, मास, दिन, होरा, इनके अधिपतियों की प्रतिपत्ति और निवृत्ति, सौर आदि मानों के भेद, अयन निवृत्ति के भेद, छाया, जल, यन्त्र से दृग्गणित साम्य, सूर्यादि ग्रहों के शीघ्र, मन्द, दक्षिण, उत्तर, नीच और उच्च गतियाँ, सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण में स्पर्श–मोक्ष, इनके दिग्ज्ञान, स्थिति विभेद वर्ण, देश, ग्रह समागम, ग्रह युद्ध, ग्रहों की कक्षाएँ, पृथ्वी, नक्षत्र के भ्रमण, संस्थान, अक्षांश, लम्बांश, दिवज्याचापांश, चरखण्ड, राश्युदय, छाया, नाड़ी, करण आदि के क्षेत्र का वर्णन मिलता है। संहिता ज्योतिष में सूर्य आदि ग्रहों के संचार, उस संचार में होने वाले ग्रहों का स्वभाव, विकार, प्रमाण, बिम्ब का परिमाण, वर्ण, किरण, द्युति संस्थान, अस्त, उदय, मार्ग, मार्गान्तर, वक्र, अनुवक्र, नक्षत्रों के साथ ग्रहों का समागम, चार–चार के फलनक्षत्र–विभाग द्वारा बने हुए कूर्म चक्र से देशों का शुभाशुभ फल अगस्त मुनि का संचार, सप्तर्षि चार ग्रह भक्ति, नक्षत्रव्यूह, ग्रह शृंगाटक, ग्रह–युद्ध, ग्रह समागम, वर्ष–पति ग्रह का फल, गर्भ लक्षण, रोहिणी, योग, स्वाति योग, आषाढी योग, सद्योवर्षण, कुसुमलता का लक्षण, वृक्षों के फल–फूल की उत्पत्ति के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान, परिधि, परिवेश, वायु, उल्कापात, दिग्दाह का लक्षण, भूकम्प, संध्या की लालिमा, गंधर्व नगर का लक्षण, धूलिका लक्षण, निर्घात लक्षण, अर्ध काण्ड, अन्न की उत्पत्ति, इन्द्र ध्वज, इन्द्र–धनुष का लक्षण, वास्तु विद्या, अंग विद्या, वायस–विद्या, अन्तरचक्र, मृगचक्र, श्वचक्र, वात चक्र, प्रासाद लक्षण, प्रतिमा लक्षण, वृक्षायुर्वेद, उदकार्गल, नीराजन, खंजन लक्षण, उत्पातों की शांति, मयूर चित्रक, घृत, कम्बल, षड्ग, पट्ट, मुर्गा, कूर्म, गौ,

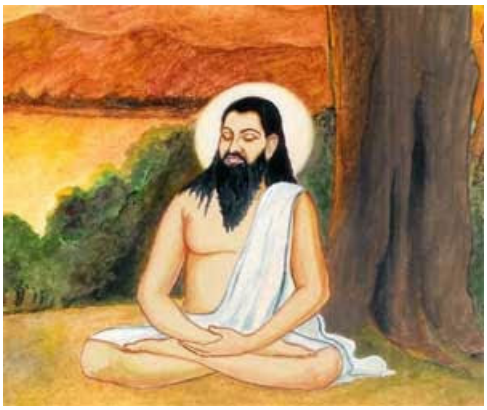

अजा, कुत्ता, अश्व, हस्ति, पुरुष, स्त्री, अन्तःपुर की चिंता, पिटक मोती, वस्त्रच्छेद, चामर, दण्ड,शय्या, आसनादि का लक्षण, रत्न–परीक्षा, दीप–लक्षण, दन्तकाष्ठादि के द्वारा शुभाशुभ फल संसार के प्रत्येक पुरुष और राजाओं में प्रत्येक प्रकार के लक्षण का विचार किया जाता है। इसी प्रकार फलित ज्योतिष में भी मेषादि द्वादश राशियों का स्वरूप, होरा, द्रेष्काण, नवांश, द्वादशांश, त्रिशांश, राशियों के बलाबल, परिग्रह, सूर्यादि ग्रहों के दिग्बल, स्थान–बल, काल–बल, चेष्टा–बल, नैसर्गिक–बल आदि का वर्णन, गर्भाधान, जन्म–काल, नालवेष्टित, यमलादि, संतान की उत्पत्ति का वर्णन, बालारिष्ट, आयुर्दाय, दशा, अन्तर्दशा, अष्टकवर्ग, राजयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रह–योग, नाभस योगादि का फल, आश्रय, भाव, दृष्टि, गति, अनूकश (पूर्व जन्म) आदि का विचार, तात्कालिक प्रश्नों का शुभाशुभ कारण, विवाहादि, उपनयन, चूडाकरण, गृह–प्रवेश आदि कर्मों के ज्ञान के कारण, निर्माण तथा नष्ट जातक आदि का वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य वराहमिहिर ने इन तीनों स्कंधों पर अपने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। सिद्धांत ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर द्वारा रचित पूर्ववती पाँच आचार्य पैतामह, वशिष्ठ, रोमक, पोलिश तथा सूर्य आदि पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रंथ प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में आचार्य से पूर्ववर्ती पाँच आचार्यों के सिद्धांतों का संकलन है। यह गणित ज्योतिष पर आधारित है। यह पुस्तक तत्कालीन ज्योतिष के ज्ञान के लिए अपूर्व सिद्ध हुई है। यदि पंचसिद्धान्तिका न होती तो ज्योतिष इतिहास का हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता। फलित ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर के दो ग्रन्थ–लघुज्जातक एवं बृहज्जातक प्राप्त होते हैं। लघुज्जातक भी समास संहिता की भाँति बृहज्जातक का संक्षिप्त रूप है। बृहज्जातक में कुल 28 अध्याय हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त आचार्य ने विवाह पटल, योगयात्रा, बृहद् योग–यात्रा, जातकार्ण, दैवज्ञवल्लभा, विवाह खण्ड, दिकनिकयात्रा, ग्रहणमण्डल फलम्, पंचपक्षी, दिक्कियिनी यात्रा, मयूर चित्रक इत्यादि ग्रंथों की रचना की है। वृहत् योग–यात्रा पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है किन्तु यह पहले

उपलब्ध अवश्य थी, क्योंकि पांडुरंगकाणे ने वृहत् योग–यात्रा के अनेक उद्धरणों को धर्मशास्त्र के इतिहास में उद्धृत किया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि वृहत् योग यात्री ग्रन्थ पहले अवश्य ही उपलब्ध था। विवाह पटल ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं मिलता। सम्भव है यह ग्रन्थ भी भट्टोत्पल के पश्चात् लुप्तप्राय हो गया। ग्रन्थ के नाम से ही ऐसा लगता है कि इसमें विवाह सम्बन्धी विषयों का वर्णन रहा होगा। विवाह योग, उसके शुभ–अशुभ परिणाम आदि पर विचार इसमें अवश्य रहा होगा। पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में आचार्य ने कर्णावतार में 25 श्लोक, नक्षत्रादिच्छेद में 13 श्लोक, इस प्रकार पोलिश सिद्धांत के समापन तक 37 श्लोकों का, पुनः करणाध्याय चतुर्थ तक 56 श्लोकों का वर्णन किया है। शशिदर्शनम् में 10 श्लोक, चन्द्रग्रहण नामक छठें अध्याय में 14 श्लोक, पोलिश सिद्धांत के सूर्य ग्रहण नाम के सातवें अध्याय में 6 श्लोक, रोमक सिद्धांत के सूर्य ग्रहण नामक आठवें अध्याय में 18 श्लोक, सूर्य सिद्धांत के सूर्यग्रहण नामक नवम अध्याय में 20 श्लोक, चन्द्रग्रहण नामक दशम अध्याय में 7 श्लोक, अनुवर्णन नामक एकादश अध्याय में 6 श्लोक, पितामह सिद्धांत नामक 12वें अध्याय में 5 श्लोक, त्रैलोक्य संस्थान नामक 13वें अध्याय में 42 श्लोक, छेद्यकयन्त्राणि नामक 14वें अध्याय में 41 श्लोक, ज्योतिषोपनिषद नामक 15वें अध्याय में 21 श्लोक, सूर्य सिद्धांत के मध्यगति नाम के 16वें अध्याय में 11 श्लोक, ताराग्रहस्फुटीकरण नामक 27वें अध्याय में 14 श्लोक, पोलिश सिद्धांत के ताराग्रह नामक 18वें अध्याय में 81 श्लोकों का वर्णन किया है। इस प्रकार पंचसिद्धान्तिका ग्रन्थ में कुल अध्यायों की संख्या 18 तथा श्लोकों की संख्या 442 है। इसी प्रकार योग यात्रा नामक पुस्तक में आचार्य ने कुल 16 अध्यायों का विवेचन किया है जिसमें कुल श्लोकों की संख्या 485 है। आचार्य वराहमिहिर रचित लघुज्जातक बृहज्जातक का संक्षिप्त रूप है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने कुल 16 अध्यायों के अन्तर्गत 182 श्लोकों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ ग्रहस्वरूपाध्याय में आठ श्लोकों के सहित सूर्यादि ग्रहों के स्वरूप तथा प्रयोजनादि का वर्णन हैं। कुल बारह श्लोकों के साथ आधानलग्न से दीप का ज्ञान, गर्भाधान से जन्मकाल का विचार, प्रसव संभव मं् विशेष, गर्भाधानकालिक अशुभयोग, आध ाान से दसमासों में गर्भ के रूप और फल, आधान लग्न से गर्भ का ज्ञान, गर्भ में पुत्र, कन्या का ज्ञान, पुत्र कन्या, यमलयोग विशेष विषयों का निरूपण किया गया है। गर्भाधान का वर्णन बृहत्संहिता और बृहज्जातक ग्रंथों में भी मिलता है, इन सभी का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए क्योंकि यह अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है और वर्तमान संदर्भ में इस पर यह शोध होना चाहिए कि इसमें कुछ अंतर है अथवा एक समान विवरण है। वस्तुतः हम यहाँ विज्ञान एवं तकनीकी की चर्चा कर रहे हैं, अतः उपर्युक्त विषय पर मेरी तरफ से यह अध्ययन अभी संभव नहीं है। इसी प्रकार बारहवें प्रकीर्णाध्याय में कुल 27 श्लोकों के साथ अनफासुनफा, दुरनधरा, केमद्रुम योग, अनफादि योग के फल, अनफादि योगकारक ग्रहों के फल, सूर्य से विशेष योग, द्विग्रहयोग, प्रवज्या योग, सूर्यादि ग्रहों की प्रवज्या, प्रवज्यायोग में विशेषता, चरादि राशिफल, दृष्टिफल, भावफल, लग्नगत चन्द्रफल, सूर्यफल, भावफल में न्यूनाधिकता, मेषादि नवांशजातफल, स्वगृह मित्रगृहगत ग्रहों के फल, स्वोच्चगत ग्रहों के फल, नीचगत ग्रहों के फल तथा राजयोगादि का वर्णन है। राजयोग और प्रवज्या योग पर भी वराहमिहिर ने अन्य ग्रंथों में अपने विचार रखे है, जिस पर विचार करना चाहिए। चौदहवें स्त्रीजातकाध्याय में स्त्री के आकार तथा लक्षण, पति सम्बन्धी विचार, अशुभ योग तथा ब्रह्मवादिनी योगों का वर्णन 6 श्लोकों में तथा पन्द्रहवां निर्याणाध्याय में 5 श्लोकों के साथ मृत्युकारणज्ञान, मरणान्तरगतिस्थानज्ञान, मोक्षयोग तथा पूर्वजन्म वृत्तान्तादि विषयों का वर्णन है। बृहज्जातक के 27 अध्यायों में कुल 409 श्लोकों का वर्णन है। इसके द्वितीय ग्रहभेदाध्याय में 21 श्लोकों के साथ कालपुरुष के आत्मादि विभाग, ग्रहों के पर्याय, ग्रहों के अन्य भाषाओं के नाम, ग्रहों के वर्ण, वर्णस्वामी आदि का ज्ञान, ग्रहों की नपुंसक आदि संज्ञा, ब्राह्माणादि वर्णों के स्वामी, ग्रहों के स्वरूप और धातु स्थान और वस्त्रादि, दृष्टिस्थान, राहुकेतु की दृष्टि में आचार्य का मत, ग्रहों के काल और इसका निर्देश, ग्रहों के नैसर्गिक मित्र, शत्रुकथन, सत्याचार्योक्त मित्रादिकथन, आचार्य के मतानुसार मित्रादि कथन, तात्कालिक मित्रादि कथन, ग्रहों के स्थानबल, दिग्बल, चेष्टाबल, कालबल, तथा नैसर्गिक बल विषयों का वर्णन है। चतुर्थ निषेकाध्याय में 22 श्लोकों में गर्भधारण करने के योग्य ऋतु समय का ज्ञान, गर्भधानकालिक लग्न से मैथुन का ज्ञान, गर्भसम्भवासम्भवज्ञान, गर्भाधानकाल से प्रसूति काल तक शुभाशुभ ज्ञान, पिता, माता, पितृव्य, मातृष्वसाओं का शुभाशुभ ज्ञान, गर्भिणी मरण के योग, मरण में योगान्तर, गर्भिणी की शस्त्र से मृत्यु और गर्भास्त्रावयोग, गर्भपुष्टिज्ञान, गर्भज्ञान काल अथवा प्रश्नकाल से पुरुष स्त्री विभागज्ञान, पुत्र जन्म का दूसरा योग, नपुसंक के योग, एक साथ दो और तीन सन्तति का योग, तीन से अधिक सन्तति का ज्ञान, गर्भ के मासाधिप और उनका फल, सदन्तादियोग, वामन और अंगहीन योग। अन्ध और काणयोग प्रसंगवशगर्भाधान के मुहूर्त, आधानलग्न से प्रसवकाल ज्ञान, तीन वर्ष तथा बारह वर्ष पर्यन्त गर्भाधारण योगों का वर्णन है। गर्भाधन से सम्बन्धित बातें लघुज्जातक और बृहत्संहिता में भी कही है।

दसवें कर्मजीवाध्याय के 4 श्लोकों में जातक को किससे धन की प्राप्ति होगी, नवाशपति की वृति एवं धनागम के ज्ञान का वर्णन है। तथा ग्यारहवें राजयोग के 20 श्लोकों में 32 प्रकार के राजयोग चवालिस राजयोग पुनः राजयोगों के अन्य प्रकार राज्य प्राप्ति का समय भोगी और भिल्ल चोरों के स्वामी का योग विषयों का वर्णन है। राजयोग का वर्णन वराहमिहिर के अन्य ग्रंथों में भी मिलता है। पन्द्रहवें प्रवज्यायोगाध्याय में कुल चार श्लोकों के सहित प्रवज्या योग, अदीक्षितादि योग, अन्य प्रकार से प्रवज्या योग, शास्त्र बनाने का और तीर्थ करने का योग इत्यादि का वर्णन मिलता है। इसकी सूचना वराहमिहिर के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।

मालवा का तापस पुरुष-राजयोगी भरथरी

डॉ. पूरन सहगल

इतिहास जब स्तब्ध हो जाता है तब लोक चेतमान होकर उसकी स्तब्धता को जागृत करता है। कई बार ऐसा हुआ है जब इतिहास भूलभुलैयाँ के गलियारों में भटक गया तब लोक साहित्य ने अंगुली पकड़कर उसे उचित मार्ग दिखाया। इसी प्रकार अनेक बार इतिहास भी लोक साहित्य का मार्ग प्रशस्त करता है। दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पुष्टिकर्ता हैं। इनके अन्तःसम्बन्ध अत्यंत प्रगाढ़ हैं। मालवा (मध्य प्रदेश) का यह अंचल जिन प्रमुख विभूतियों के नाम से हैं उनमें विक्रमादित्य, भरथरी, भोज और यशोदर्मन के नाम इतिहास और लोक साहित्य बड़े आदर से लेता है। भरथरी का यश पूरे भारत में अलग–अलग अंचलों में विस्तीर्ण रहा है। वीरता, दान शीलता, त्याग, तपस्या, न्याय सत्य, शील, शृंगार, वैराग्य एवं साहित्य तथा ज्योतिष के अलावा सुशासन के लिए इतिहास के पृष्ठों में सम्मान के साथ स्थान दिया गया है। लोक साहित्य ने इन्हें खूब गाया और इनके जीवन की अनेक घटनाओं को सदा लोक में प्रचारित किया है। मालवा का परमार राजा भरथरी केवल वीर ही नहीं था। उनका यश शृंगार, नीति और वैराग्य के लिए लोक प्रसिद्ध है। गुरु गोरख के सिद्ध शिष्य के रूप में तथा पिंगला के मानवीय पति के रूप में राजा भरथरी का नाम प्रमुखता से एवं पूरे आदर से लिया जाता है। इनके इस यश की अनेक विरदगाथाएँ लोक कंठ में सैकड़ों वर्षों से आज भी जीवित हैं। राजा भरथरी, जोगी भरथरी और भर्तृहरि शतक तीनों पर विद्वानों ने खूब चर्चाएँ की हैं। इतिहास कानों सुनी बात करता है जबकि लोक साहित्य आँखन देखी बात कहता है। इतिहास के पास केवल कान होते हैं जबकि लोक साहित्य के पास कान और आँखें दोनों होते हैं। इसके बावजूद इतिहास और लोक साहित्य के अन्त सम्बन्ध बने रहते हैं। जब भी इतिहास मार्ग भटकता है, लोक साहित्य उसकी अँगुली पकड़कर उसे सही मार्ग पर छोड़ जाता है। कई बार इतिहास लोक साहित्य के इस अहसान का चुकारा करता दिखता है। राजा भरथरी, जोगी भरथरी को भिन्न और अभिन्न कहने का आधार चीनी यात्री 'इत्सिंग' है। उसके अनुसार भर्तृहरि का समय 651 ई. का है। इत्सिंग कहता है वह बौद्ध था।

इसी को आधार मानकर हमारे विद्वानों ने राजा भर्तृहरि और जोगी भरथरी को भिन्न मानना शुरू किया और समय निर्धारित करने में आज तक द्राविड़ प्राणायाम कर रहे हैं। यदि वह बौद्ध था तब उसने अपने शतकों में कहीं तो बौद्ध दर्शन का उल्लेख या संकेत किया होता। इसके विपरीत शतकों में शैव दर्शन का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि, उज्जैन का राजा भर्तृहरि बौद्ध था तब यह कहने में कैसा संकोच कि शतकों का रचयिता भर्तृहरि न होकर जोगी भरथरी है? वह कहाँ का राजा था? क्या उज्जैन का ही वह राजा था। तब उस राजा भरथरी द्वितीय का उल्लेख टटोल कर मार्ग ढूँढने वाला इतिहास क्यों नहीं करता? हमारी परंपरा रही है कि हम विदेशी साक्ष्यों एवं उल्लेखों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इत्सिंग कितना प्रामाणिक था इस बात का पता तो भर्तृहरि को बौद्ध बताने से ही चल जाता हैं। यह भी तो हो सकता है कि भर्तृहरि ही भरथरी हो। दोनों अभिन्न हों। लोक बोलियों में 'भर्तृहरि' उच्चारण अत्यंत कठिन है बल्कि असहज भी है। लोक बोलियों में एक 'रेफ' का उच्चारण और ऋकार का उच्चारण नहीं होता। इसी कारण धर्म को धरम, कर्म को करम, समर्थ को समरथ तथा कृष्ण को किशन, कृपा को किरपा उच्चारित किया जाता है। वैसे भी यह बहस अनन्त है। अन्तहीन और बेमानी है। भरथरी को यदि तलाशना है तब हमें लोक में जाना पड़ेगा। लोक गायक जोगियों की सारंगी के स्वरों पर कान लगाना पड़ेंगे। शतकों में भरथरी को खोजना भी बेअर्थ नहीं है। किन्तु यदि सचमुच भरथरी की तलाश करना अभीष्ट है तब हमें लोक गाथाओं, लोक गीतों, लोक श्रुतियों और लोकोक्तियों को तलाशना और समझना होगा। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं शतकों का रचयिता भर्तृहरि अलग है और लोक गीतों का भरथरी अलग है। इसी संदर्भ में डॉ. श्याम परमार कहते हैं भरथरी उज्जैन का राजा था। इसकी पुष्टि में वे मालवी गाथा के भरथरी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। 'बाण तो विंधा से जागिध्बणिगया–छोड़ि गया उज्जणी का राज' मालवी का लोक साहित्य इसी बात को डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी पलट कर कहते हैं। भरथरी जिन्होंने विरक्त होकर अपने भाई विक्रमादित्य को राज्य सौंप दिया था। उनका सम्बन्ध पालवंश के गोपीचन्द और मायामती से था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी यह तो स्वीकारते हैं कि, राजा भरथरी उज्जैन का राजा था और विक्रमादित्य का भाई था। शतकों का रचयिता जो भी था वह निश्चित ही शृंगार, नीति और वैराग्य का पथिक था। तीनों मार्गों का अनुगमन उसने अवश्य किया था। शृंगार शतक की पहली सूक्ति में ही शतक रचयिता कहता है– शिव, ब्रह्मा और विष्णु जैसे देवताओं को भी जिसने मृगनैनियों का दास बनाकर उनसे गृहकार्य तक सम्पन्न करवाया ऐसे चरित्रों में विचित्र मालूम पड़ने वाले भगवान मकरध्वज कामदेव को शत–शत प्रणाम। यह उक्ति ही सिद्ध कर देती है कि भर्तृहरि काम पराजित थे। भोग विलास में आकंठ लिप्त थे। वे स्वयं को सुरक्षित करते हुए ही यह उक्ति कहने को विवश हुए। जब ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे परमदेव भी कामवश होकर विवश हो गए तब मेरी क्या बिसात। उनकी यह कालजयी उक्ति आज भी उतनी ही सत्य है जितनी उस काल में जब इसकी रचना की गई होगी। इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे अगली सूक्ति में कहते हैं– यौवन के कारण मंद मुस्कान, चेहरे पर लज्जा के भाव लाकर, मुँह घुमाकर, मुस्कराकर,

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भर्तृहरि की लोक स्वीकृति

भर्तृहरि का व्यक्तित्व बहुविध विशेषताओं से सम्पन्न है। परम्परा मानती है कि वे एक राजा थे। फिर वे योगी हो गये। उन्होंने नाथ परम्परा में वैराग पंथ चलाया। उनका मुख्य स्थान राताइँडा स्थल अजमेर के पास है। अलवर के सरिस्का में समाधि स्थल है। उज्जैन में क्षिप्रा तट पर भर्तृहरि गुफा उनकी प्रथम तपोभूमि है। गंगातट के चुनार में भी उनकी साधनास्थली बताई जाती है। राजा से योगी हुए भर्तृहरि सम्बन्धी लोकगाथाएँ भारत की विभिन्न बोलियों में गायी जाती हैं। मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, बंगाल की विभिन्न बोलियों में भरथरी की गाथाएँ गायी जाती हैं। नाथ परम्परा में भरथरी के गीत गाये जाते हैं। भर्तृहरि सम्बन्धी नौटंकी, नाच, ख्याल आदि लोकनाट्यों की प्रस्तुतियों को जनता बड़े चाव से देखती है। राजा भर्तृहरि सम्बन्धी पन्द्रहवीं सदी के हरिहर का भर्तृहरिनिर्वेद नामक नाटक संस्कृत में है। ने नाथ परम्परा में भर्तृहरि के रचे अनेक पद प्राप्त होते हैं। जायसी ने राजा भर्तृहरि के योगी होने की चर्चा बार बार अपने पदमावत में की है। कबीर और गुरुनानक ने भर्तृहरि के न केवल उल्लेख किये अपितु तत्कालीन उनके पद भी प्राप्त होते हैं।

मराठी पुस्तक षट्स्थल में भर्तृहरि की योग कथा पायी जाती है। चौदहवीं सदी के आरंभ की प्रबन्ध–चिन्तामणि में भी योगी भर्तृहरि की चर्चा पायी जाती है। लोक में भर्तृहरि को बड़े चाव से देखा सुना जाता है। कथा में भर्तृहरि ने अमरफल खाया था। भर्तृहरि परम्परा में अमर है। एक ओर वे विक्रमादित्य के भाई के रूप में विख्यात है और विक्रमकालीन विद्वानों में हरि के नाम से याद किये गये हैं। क्योंकि भर्तृहरि को हरि भी कहा भर्तृहरिः हरिः स्मृतः। तो दूसरी ओर वे मध्ययुगीन नाथगीतों के गायक और रचनाकार है। ईसवी पूर्व प्रथम सदी, सातवीं सदी, ग्यारहवीं सदी, बारहवीं सदी और पन्द्रहवीं–सोलवीं सदी तक उनकी रचनात्मक उपस्थिति में उस अमरफल की सार्थकता का आभास होता है– जग में अमर राजा भरथरी। ऐसे भर्तृहरि को पहचानने के लिए समय समय लिखी विविध सामग्री का संकलन इस पुस्तक में किया गया है। लोक में ऐसा कोई व्यक्ति खोजना हो जो राजा होकर भी स्वेच्छा से रंक बन गया हो, दार्शनिक होकर भी कवि बन गया हो, गृहस्थी होकर बैरागी बन गया हो, विद्वानों में वरेण्य होने पर भी लोकव्यापी कीर्ति का आधार बन गया हो तो वह भर्तृहरि के सिवा और कौन हो सकता है ? जनता भर्तृहरि के उस व्यक्तित्व से परिचित नहीं जो वैयाकरण अथवा दार्शनिक है। उस भारको वह वहन भी कैसे कर सकती है? वह उसके उस लोक प्रिय रूप पर ही रीझी जो करुणा सेआप्लावित है। उस लोकरूप को जनता ने गीतों में, कथाओं में

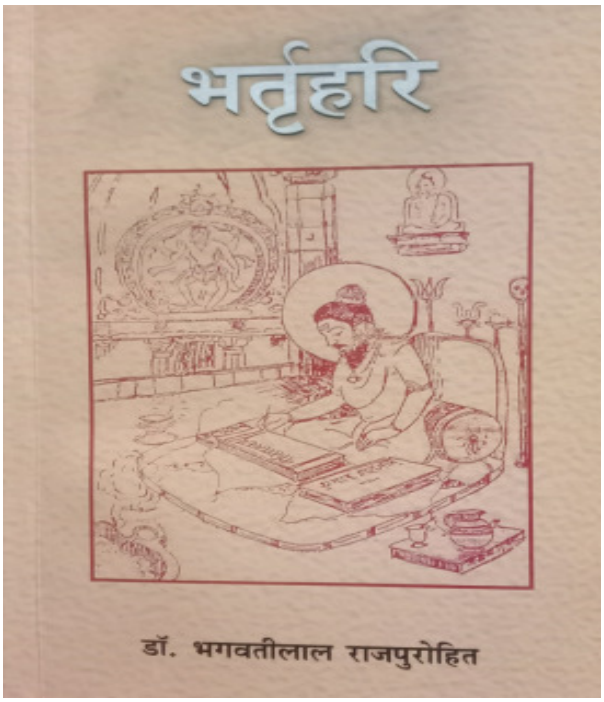

लोकनाट्यों में स्वीकार कर लिया। बस अब उस रूप को गाती है, कहती है, देखती है, रीझती है, रोती है और फिर उसे गाने, कहने और देखने को लालायित रहती है। भर्तृहरि का यह रूप न केवल भारतीय उपमहाद्वीप में, अपितु नेपाल, तिब्बत और भूटान तक में व्याप्त है। कहानी के मूल में अन्तर नहीं,पर फिर भी निजता तो है ही। जगह–जगह धर्म और धर्म से परे भर्तृहरि का अपना आकर्षण है। पूरे देश में उसकी गुफाएँ मिल जाएँगी। सिद्ध तो गोरखनाथ हुआ पर प्रसिद्ध भर्तृहरि हुआ। भर्तृहरि का दर्शन भी लोकहित को लेकर आगे बढ़ता है। उस जैसा समय और दूरी का साधक और कौन सा दर्शन है? उसके तीनों शतकों में लोकजीवन का दर्पण है। लोक समस्याओं की ओर तो संकेत है उसमें भर्तृहरि की लोकदृष्टि उसके अनोखे लोकदर्शन को व्यक्त करती है। जिसमें निजता और अपनत्व का आकर्षण और प्रताड़ना दोनों ही है। अनिश्चय की लोकानुरूप किंकर्तव्यविमूढता उनकी कविता में पद–पद पर पायी जा सकती है। भर्तृहरि ने लोक को जाना, जान कर बखाना और लोक ने भर्तृहरि को भरथरी बना अपना लिया। ऐसा अपनाया कि वह अपनाता ही गया। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित की यह पुस्तक भरथरी के जीवन के समग्र पहलुओं को बहुत ही विस्तृत ढंग से प्रकट करती है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com